

हिन्दू धर्म पर लगाये गये आक्षेप एवं उनका समाधान

[धर्मशास्त्र गीता, आदिशास्त्र गीता से धर्म की परिभाषा लें और केवल भारत को ही नहीं, विश्व को धर्म-संदेश दें।]

हिन्दू-धर्म पर तरह-तरह के आक्षेप लगाये जाते रहे हैं, जिनका उल्लेख माननीय शीर्ष न्यायालय, भारत सरकार ने शास्त्री यज्ञपुरुषदासजी बनाम मूलदास भूधरदास वैश्य (ए.आई.आर. 1966, उच्चतम न्यायालय, 1119), डा. रमेश यशवन्त प्रभु बनाम प्रभाकर काशीनाथ कुंते एवं अन्य (ए.आई.आर. 1996, सर्वोच्च न्यायालय 1193), ए.एस. नारायण दीक्षितुलु बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य एवं अन्य (ए.आई.आर. 1996, सर्वोच्च न्यायालय, 1765) के निर्णयों में किया है; जैसे-

पहला आक्षेप है कि आर्य या हिन्दू मध्य एशिया, यूरोप से आये; सिन्धु के किनारे या जैसा ऋग्वेद में है, सप्तसैन्धव अर्थात् पंजाब की भूमि में बस गये।

दूसरा आक्षेप है कि हिन्दुओं में आदिवासी, अर्द्धसभ्य, सुसंस्कृत, द्रविड़ और वैदिक आर्य; सभी का मिश्रण है।

तीसरा आक्षेप है कि यह धर्म वेद पर आधारित है, जातिप्रथा पर आधारित है, यह ईश्वर से अधिक ब्राह्मणवाद पर आधारित है और वेदों के पठन-पाठन में स्त्रियों और शूद्रों का अधिकार नहीं है।

चौथा आक्षेप है कि इसमें कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है।

पाँचवाँ आक्षेप है कि इसमें अनेकों सम्प्रदाय हैं, जिनके उत्सव और अनुष्ठान एक दूसरे से भिन्न हैं। इसलिये हिन्दू-धर्म मानता है- कोई किसी भी रास्ते से चले, ईश्वर तक पहुँचता है। भारत के लोग न केवल सहिष्णुता के

सिद्धान्त में विश्वास करते हैं बल्कि सभी धर्मों को सच मानते हैं। हिन्दू सभी हिन्दुओं और अहिन्दुओं के प्रति भी सहिष्णु होता है। यही कारण है कि जिन महापुरुषों ने इस धर्म में सुधार करना चाहा, सबके पंथ और सम्प्रदाय बनते गये। माननीय शीर्ष न्यायालय ने महामहिम डा. शंकरदयाल शर्मा के 1989 ई. के भाषण का सन्दर्भ दिया है कि भारत में धर्म निरपेक्षता का अर्थ है 'सर्वधर्म समभाव'। उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (4/11)– लोग जिस प्रकार से मुझे भजते हैं उसी प्रकार से मैं उनकी कामना पूर्ण करता हूँ; 'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।' (7/21)– जिस भी रास्ते से भक्त मुझे भजना चाहता है, मैं उसके विश्वास को दृढ़ करता हूँ।

छठाँ विचार बिन्दु है कि माननीय शीर्ष न्यायालय ने महाभारत, कर्ण-पर्व (69/58) का उद्धरण दिया है कि धर्म समाज को स्थिरता प्रदान करता है। महाभारत, आश्रमवासिक-पर्व (5/9) में धृतराष्ट्र का युधिष्ठिर को उपदेश है कि केवल धर्म ही कानून के शासक के रूप में राज्य की रक्षा कर सकता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद (1/4/14) में है कि धर्म से बढ़कर कुछ नहीं है। धर्म वास्तव में सत्य है और सत्य ही धर्म है। बाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड (109/10) में है कि सत्य और दया सनातन-धर्म हैं, राज्य सत्यमूलक है। 1988 ई0 में प्रकाशित स्वामी राम की 'मानवता की पुकार' में है कि धर्म सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, सहनशीलता, क्षमा और आपसी सहभागिता पर आधारित सदैव रहनेवाले नियम हैं, जो व्यक्ति को शान्ति प्रदान करते हैं। धर्म सबको गले लगाता है, किसी को बाहर नहीं छोड़ता। सबकी स्वार्थरहित सेवा धर्म है; दूसरे शब्दों में मानव-सेवा ईश्वर-सेवा है।

माननीय शीर्ष न्यायालय ने यह भी ध्यान दिलाया है जिसे सातवाँ आक्षेप कहा जा सकता है कि हिन्दू-धर्म का एक पैगम्बर नहीं।

आठवाँ आक्षेप– इसमें एक ईश्वर की पूजा नहीं, पूजे जा रहे देवताओं की निश्चित संख्या नहीं, निर्धारित सिद्धान्त नहीं है।

नौवाँ आक्षेप है कि हिन्दू धर्म में एक निश्चित धार्मिक कर्मकाण्ड नहीं हैं।

दसवाँ आक्षेप है कि इस धर्म का न कोई आदि है न एक संस्थापक।

ग्यारहवाँ आक्षेप है कि इसमें सर्वमान्य एक धर्मगुरु नहीं।

बारहवाँ आक्षेप है कि हिन्दुओं का कोई सर्वमान्य शास्त्र नहीं है।

तेरहवाँ आक्षेप— हिन्दुओं का न एक संगठन है, न एक विषय-सूची।

चौदहवाँ आक्षेप है कि जिन-जिन सभ्यताओं के सम्पर्क में हिन्दू आये, उनकी परम्पराओं को अपनाते गये। इनका अपना कुछ नहीं है इसलिए हिन्दू धर्म भिन्न-भिन्न मान्यताओं पर आधारित विश्वासों का अजायब-घर है। अतः हिन्दू-धर्म की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं की जा सकती।

पन्द्रहवाँ आक्षेप है कि हिन्दू-धर्म जीवन-पद्धति मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं।

सोलहवाँ आक्षेप है कि हिन्दू तो एक मनोदशा है, एक विचार है, दर्शन है, संस्कृति है। मनोदशा, दर्शन और संस्कृति ऐसे शब्द हैं जिनका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं है। हिन्दू-धर्म को धर्म न मानकर माननीय शीर्ष न्यायालय द्वारा जीवनशैली मानने से इस धर्म के करोड़ों अनुयायियों की भावनायें आहत हुई हैं, इसलिये विचारणीय है कि हिन्दू-धर्म क्या वास्तव में ऐसा ही है?

हिन्दू-धर्म पर लगाये गये उपर्युक्त आक्षेप वस्तुतः हिन्दू-धर्म के ऊपर नहीं, बल्कि उसमें आयी हुई विकृतियों को लेकर हैं। सबसे पहले 'धर्म' शब्द को ही लें। अनेक शब्दों के साथ लगकर 'धर्म' शब्द आज केवल विशेषण बनकर रह गया है। धर्म के नाम पर बने विश्व के अनेकों संगठनों को छोड़ दें तब भी अकेले हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत प्रचलित स्थूल-धर्म, सूक्ष्म-धर्म, उप-धर्म, कुल-धर्म, वर्ण-धर्म, जाति-धर्म, गुण-धर्म, श्रौत-धर्म, स्मार्त-धर्म, सामान्य-धर्म, विशिष्ट-धर्म, आपद्-धर्म, निमित्त-धर्म, देश-धर्म, युग-धर्म, राज-धर्म, पर-धर्म, चल-धर्म, जिन बीमारियों पर बस नहीं चला, जैसे— हैजा-धर्म, चेचक-धर्म और धर्माभासों के बीच वास्तविक धर्म अपनी पहचान खो चुका है। 'धर्म' शब्द को शुद्ध रूप में समझने के लिये इसे व्रत-उपवास, तीर्थ-त्यौहार, शुद्धि-श्राद्ध, देवी-देवता, भूत-प्रेत, वृक्ष-नाग तथा मूर्ति-मजारों की पूजा जैसी

कुरीतियों से अलग करना तथा सामाजिक व्यवस्था, स्वास्थ्य, रहन-सहन, राजनीति एवं अर्थव्यवस्था की उपयोगी बातों को भी धर्म कहना छोड़ना होगा। धर्मशास्त्र गीता के अनुसार धर्म के अन्तर्गत केवल एक बात आती है— वह निर्धारित क्रिया जिसे करने से आत्म-साक्षात्कार होता है।

● 'हिन्दू' शब्द पर भ्रान्ति—

हिन्दू-धर्म में ये विकृतियाँ कई हजार वर्षों से पनप रही हैं; विशेषतः पुष्यमित्र शुंगकाल से भारत की मूलभाषा संस्कृत के पठन-पाठन पर प्रतिबंध, धर्मशास्त्र 'गीता' और इतिहास-संस्कृति ग्रन्थ 'महाभारत' पर प्रतिबंध लग जाने और विदेशियों द्वारा लिखित गलत इतिहास पढ़ाये जाने के कारण इन भ्रान्तियों ने जन्म लिया कि 'हिन्दू' शब्द कहाँ से आया? आर्य कहाँ से आये और हिन्दू-धर्म सनातन कैसे है?

● वर्ण को जाति मानने की भ्रान्ति—

आज से लगभग दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व गीता के एक श्लोकांश 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' (4/13) को लेकर तत्कालीन व्यवस्थाकारों ने प्रचार किया कि समाज में चार वर्णों अर्थात् जातियों की रचना भगवान ने स्वयं की है, जिसमें ब्राह्मण पढ़े और पढ़ाये, लेखा-जोखा देखे, न्याय करे, यज्ञ कराये; सुरक्षा-व्यवस्था क्षत्रिय देखे; धन-धान्य, कृषि, गो-रक्षा वैश्य करे; और सेवा-विभाग शूद्र देखे। आरम्भ में सभी व्यवसाय कार्यसूचक थे, कालान्तर में इनमें ऊँच-नीच का भेदभाव पनपने लगा तो लोगों से कहा गया कि यही धर्म है। इस दुष्प्रचार की पोलपट्टी न खुल जाय, तो गीता पर प्रतिबंध लगा दिया कि गीता घर में न रखें; घर में रहेगी तो पढ़ने में आ जायेगी। शिक्षा पर प्रतिबंध लग गया कि देववाणी संस्कृत सब पढ़ नहीं सकते। जिन्हें शस्त्र चलाना है, उन क्षत्रियों को पढ़ने की क्या आवश्यकता? वैश्य धर्मग्रन्थ पढ़ नहीं सकता, शूद्र पढ़ नहीं सकता। केवल ब्राह्मण ही पढ़ सकते थे, क्षत्रियों को थोड़ा युद्धाभ्यास, वैश्य को लिखना-पढ़ना; किन्तु विधिवत् तो ब्राह्मण ही पढ़ता था। शूद्र तो श्लोकांश सुन लेने पर भी दण्ड का पात्र था। हर जाति का खान-पान,

वेश-भूषा निश्चित कर दिया गया; जैसे- शूद्र सारहीन अन्न ठीकरों में खायें। वे जमीन या सम्पत्ति का संग्रह नहीं कर सकते। जिनकी रोटी, वस्त्र, जमीन, मान-सम्मान- सब कुछ छीन लिया गया, वे विद्रोह कर सकते हैं इसलिये शस्त्र छीन लिया गया। पूर्वजों का गौरवशाली इतिहास-ग्रन्थ महाभारत, जो शौर्य को जगाता है, उसके पढ़ने-सुनने पर प्रतिबंध लग गया कि महाभारत पढ़ोगे तो तुम्हारे घर में महाभारत-जैसा विनाश हो जायेगा।

● विनाश का कारण गीता के स्थान पर स्मृतियों को धर्मशास्त्र मानना-

इस प्रकार इतिहासविहीन, शास्त्रविहीन और शस्त्रविहीन अँगूठाछाप भारत में मनुस्मृति और उस जैसी लगभग तीन सौ (300) स्मृतियों की रचना हुई, जिनमें से पन्द्रह-बीस स्मृतियों के नियम-कानून हर स्टेट में चलाये गये। कर्मकाण्ड करनेवाले ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मणों को भी इन स्मृतियों को दिखाने का निषेध था। इन स्मृतिग्रन्थों को ही धर्मशास्त्र कहा गया। सुविधाभोगी वर्ग के पास मन्दिरों में सम्पत्ति एकत्र होने लगी, जिससे आकर्षित होकर विदेशियों ने भारत पर हमला कर दिया तो यहाँ लड़नेवाला कोई नहीं था। धर्म की कृत्रिम परिभाषायें इतनी बढ़ गयीं कि विदेशियों को छूने और उनके साथ खाने से धर्म नष्ट होने लगा। उनका छुआ पानी पीने से धर्म नष्ट, समुद्र पार करने से धर्म नष्ट होने लगा। भारत के मूल निवासी मुसलमान और ईसाई होते गये। हिन्दू आपसी फूट में ही लड़ मर रहे थे। यह विकृत-धर्म ही भारत की गुलामी का कारण बना। विकृतियोंवाला यही हिन्दू-धर्म आज भी प्रचलन में है, जिनके मुकदमे माननीय शीर्ष न्यायालय के समक्ष भी आये कि- मंदिर में कौन जाय, कौन न जाय?, लड्डू/प्रसाद पर किसका अधिकार हो?, पुजारी वंशानुगत हो या कोई भी योग्यताधारी?, मंदिर की चल-अचल सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार किसको है?, हम हिन्दू हैं भी कि नहीं?.....ये रोजी-रोटी के मुकदमे हैं, विकृतियों के मुकदमे रहे हैं। धर्म का इनसे कुछ भी लेना-देना नहीं है। वस्तु के बँटवारे से धर्म का क्या सम्बन्ध? इसी प्रकार विकृतिकालीन समाज में पले-बढ़े और पढ़े विद्वान्, जिन्होंने भारतीय इतिहास और धर्म को समझने में भूल की है, उनका भी उद्धरण माननीय शीर्ष

न्यायालय ने हिन्दू-धर्म के निर्धारण के लिये दिया है, उसका भी कोई औचित्य नहीं है।

ज्ञान की प्राप्ति के लिये भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को तत्त्वदर्शी के पास जाने का निर्देश दिया- **‘तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥’** (गीता, 4/34)- अर्जुन! किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर निष्कपट भाव से प्रश्न करके, सेवा करके तुम उस ज्ञान को प्राप्त करो। यह उल्लेखनीय है कि भगवान ने अर्जुन को दस भाषा के जानकार किसी विद्वान् या विश्वविद्यालय के अधिष्ठाता कुलपतियों के पास नहीं भेजा; किसी समृद्धिशाली चक्रवर्ती सम्राट के पास नहीं भेजा; किसी गद्दीधारी, महन्थ, पुरोहित, धर्माधिकारी या न्यायाधीश के पास नहीं भेजा क्योंकि ये तत्त्वदर्शी नहीं हैं। परम तत्त्व है परमात्मा! उस परमात्मा को जिसने क्रियात्मक चलकर विदित कर लिया है वह है तत्त्वदर्शी। तत्त्वदर्शी थे भगवान श्रीकृष्ण, कागभुसुण्डिजी, जड़भरत जैसे महात्मा; जो पढ़े-लिखे भी नहीं थे; क्योंकि तत्त्वदर्शिता की पढ़ाई भगवान स्वयं पढ़ाते हैं-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ (गीता, 4/38)

अर्जुन! ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह इस संसार में कुछ भी नहीं है। **‘तत्स्वयं’**- उस ज्ञान को तू स्वयं **‘योगसंसिद्धः काले’**- योग के आरम्भ में नहीं, मध्य में नहीं; परिपक्व अवस्था में **‘आत्मनि विन्दति’**- अपने हृदय में उसे विदित कर लोगे। इस प्रकार ज्ञान आत्म-साक्षात् के साथ मिलनेवाली जानकारी है। किताबें पढ़ लेना, रट लेना ज्ञान नहीं है। उस आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन, दर्शन के साथ मिलनेवाली जानकारी ज्ञान है। उसे जानकर उसी स्वरूप में जिसे स्थिति मिल गयी है, वह तत्त्वदर्शी है। गीता में स्थान-स्थान पर तत्त्व तथा उसकी प्राप्ति के विधान का निरूपण है जैसे- गीता (18/49-55) में है। विस्तार से जानने के लिए देखें गीता की व्याख्या ‘यथार्थ गीता’। तत्त्वदर्शन क्रियात्मक है। धर्म का निर्धारण जब तत्त्वदर्शी के स्थान पर शिक्षाविद् करने लगते हैं तभी विकृतियों एवं भ्रान्तियों का सृजन होता है।

● विश्वभर का आदिशास्त्र – श्रीमद्भगवद्गीता

सृष्टि का आदि धर्मशास्त्र गीता है। 'इमं विवस्वते योगम्' (गीता, 4/1); भगवान श्रीकृष्ण ने कहा— मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा। सूर्य ने मनु से कहा। महाराजा मनु ने इसे अपनी स्मृति में धारण किया तथा स्मृति की परम्परा दी, इसलिये वास्तविक मनुस्मृति गीता है। यह 'गीता'ज्ञान मनु से इक्ष्वाकु और इक्ष्वाकु से राजर्षियों तक पहुँचते-पहुँचते लुप्त हो चला था। वही पुरातन अविनाशी योग मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ।

आदि अविनाशी योग, सृष्टि के आरम्भ में जिसे भगवान ने कहा था, भगवान ने ही उसी का पुनर्प्रसारण गीता के रूप में कुरुक्षेत्र (भारत) में किया। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता को सृष्टि का आदिधर्मशास्त्र होने का गौरव प्राप्त है।

गीता मनु को सूर्य से विरासत में मिली थी, जबकि जीवन के उत्तरार्द्ध में मनु ने प्रलय देखा, जिसमें वेदों का प्रस्फुटन हुआ। इसलिये गीता में प्रतिपादित ज्ञान वेद से पहले का है। वेद में गीतोक्त सत्य का ही विस्तार है। इस प्रकार भी गीता आदि-धर्मशास्त्र है।

● विश्व में सभी राजपुत्र हैं, कोई दलित या अछूत नहीं—

मनु से जायमान होने के ही कारण हम सब मनुष्य, मानव या मनुज कहलाते हैं, मैन (Man) कहलाते हैं। मनु आदिपुरुष थे, उनकी संतान होने से लोग आदमी कहलाते हैं। राजा के लड़के को आप क्या कहेंगे? क्या धोबी कहेंगे? सभी राजपुत्र, राजपूत या राजकुँवर कहलायेंगे। इस प्रकार सारी सृष्टि ही राजकुलोत्पन्न है। कहीं कोई अस्पृश्य नहीं है। पृथ्वी के गोले में कोई कहीं भी पैदा हुआ हो, सबकी उत्पत्ति मनु से है। कोई शीत जलवायु में जन्मा तो श्वेत, ऊष्ण जलवायुवाला श्याम रंग का, समशीतोष्णवाला गेहूँआ रंग का हो गया। शरीर का रंग जलवायु की देन है न कि कोई नस्ल। संतान तो सभी महाराजा मनु ही की हैं। मनु को शास्त्ररूप में गीता मिली थी इसलिये मानव मात्र का धर्मशास्त्र गीता है जो ईश्वरीय गायन है।

● वेदव्यास ने भी गीता को ही प्रामाणिक शास्त्र कहा—

महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास, जिन्होंने श्रुतज्ञान की परम्परा को लेखन से जोड़ते हुए वेदों का संकलन किया, शास्त्र बनाये और महाभारत, श्रीमद्भागवत, पुराण इत्यादि बनाये, उन्होंने वेद को या इनमें से किसी ग्रन्थ को शास्त्र नहीं कहा; केवल गीता को शास्त्र माना— ‘गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यै शास्त्रसंग्रहैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥’ (महाभारत, भीष्म-पर्व, 43/1)। ‘एकं शास्त्रं देवकीपुत्र गीतम्’— जिसका गायन देवकीपुत्र भगवान श्रीकृष्ण ने किया, वह गीता ही एकमात्र शास्त्र है।

● स्वयं भगवान ने इसे शास्त्र कहा—

‘इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ’ (गीता, 15/20)– यह गोपनीय से भी गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। उन्होंने सावधान भी किया कि इस शास्त्रविधि को त्यागकर जो अपनी इच्छा से आचरण करता है, उसके लिये सुख-सिद्धि या परम गति कुछ भी नहीं है (गीता, 16/23)। इसलिये प्राणिमात्र, जो भगवान के ही विशुद्ध अंश हैं, जिन भगवान की अनुकम्पा सभी चाहते हैं, जिन भगवान से सुख-शान्ति और परम श्रेय की आशा करते हैं, उन्हीं भगवान की प्रथम वाणी ‘गीता’ धर्म का एकमात्र प्रामाणिक शास्त्र है। गीता को धर्मशास्त्र मानने में आपको क्या आपत्ति है?

● संसार के सभी धर्म गीता का ही एक-एक अंश लेकर बने हैं—

संसार में जो भी एक ईश्वर को मानते हैं, अपने को एक पिता की संतान कहते हैं, गीता के ही सन्देशवाहक हैं। विश्व में धर्म के नाम से प्रचलित जो भी पंथ, मत-मतान्तर या सम्प्रदाय हैं, उस समय तक जन्मे भी नहीं थे जब आदि अविनाशी योग का दूसरा संस्करण गीता भारत में प्रसारित हुई, जिसका उद्गम भारतीय सभ्यता के लिखित इतिहास में हर्षवर्धनकाल से भी पूर्व गुप्त और मौर्य साम्राज्य से भी पूर्व, भगवान बुद्ध और भगवान महावीर के काल से भी पूर्व, सिंधुघाटी की सभ्यता से भी पूर्व प्रागैतिहासिक काल में सृष्टि के आरम्भ तक जाता है।

● **भारतीयों ने धर्म के क्षेत्र में दूसरी सभ्यताओं से लिया नहीं, बल्कि दिया है—**

‘कृण्वन्तो विश्वमार्यम्’ का आदर्श रखकर भारत के ऋषियों ने धर्म का यह आलोक सम्पूर्ण विश्व में फैलाया, इसलिये विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में भारतीय संस्कृति के अवशेष मिलते रहे हैं; न कि भारतीय जिन सभ्यताओं के सम्पर्क में आये, उनसे कुछ-न-कुछ सीखते गये, इसलिये हिन्दू-धर्म सर्वग्राही है, सबका मिश्रण है, सबने इसे कुछ-न-कुछ सिखाया है; मानो इसका अपना कुछ भी नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि परमात्मा की शोध, उनका दर्शन, स्पर्श, उनमें प्रवेश और स्थिति का विधान केवल और केवल हिन्दू धर्म में ही है। भौतिक ज्ञान के क्षेत्र में भी भारतीय प्रतिभाओं ने शून्य (0) की खोज की, विश्व को गणित का ज्ञान दिया, गिनती गिनना सिखाया (वह भी महाभारत, रामायण, उपनिषद् या वैदिक युग जिन्हें पाश्चात्य विद्वान् ऐतिहासिक सच मानने को तैयार नहीं हैं, जब भारत ज्ञान की प्रखर रश्मियों से उद्भासित था, उस समय की बातें छोड़ भी दें)। यह गणित ज्ञान विदेशियों ने भारत से मौर्य और गुप्त युग में सीखा जब भारतीय मूल से इतर विदेशी मूल की इस्लाम और ईसाई विचारधाराओं का कहीं नामोनिशान भी नहीं था; आज वे हिन्दुओं को धर्म सिखाने का दावा करते हैं, जबकि भारतीयों ने धर्म के क्षेत्र में विश्व को दिया है, किसी से कुछ भी नहीं लिया।

● **भारतीयों की उदारता—**

इस धर्म का लाभ उठाने के लिये वैदिक ऋषियों ने विश्वभर के लोगों का आह्वान किया— ‘शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः’— अमृतअंश विश्वभर के लोग सुनें। ‘वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्’— मैंने उस परमपुरुष परमात्मा को भली प्रकार जान लिया है, जो ‘आदित्यवर्णः तमसः परस्तात्’— प्रकाशस्वरूप और तम से परे है। ‘तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति’— केवल उसी को जानने से मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है। ‘नान्यः पन्था विद्यते अयनाय’— इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। सारांशतः परम पुरुष परमात्मा को विदित कर लेना धर्म है।

● **आर्य, सनातन और हिन्दू— तीनों शब्द धर्म के पर्यायवाची नाम हैं—**

भारत में धर्म को कभी 'सनातन', कभी 'आर्य' और 'हिन्दू' नाम दिया गया। कालक्रम से ये तीनों नाम एक ही धर्म के हैं, गीता शास्त्रसम्मत हैं और तीनों का आशय एक है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! आत्मा ही सनातन है, शाश्वत है। आत्मा, परमात्मा और ईश्वर पर्यायवाची हैं। जो इस आत्मा के प्रति निष्ठावान है, सनातनधर्मी है। विधाता और उससे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है; सनातन केवल ईश्वर है। जो एकमात्र ईश्वर के प्रति श्रद्धावान् है, सनातनधर्मी है। जो आत्मदर्शन की क्रिया में लगा है, सनातनधर्मी है। आत्मदर्शन की समग्र विधि का क्रमबद्ध शास्त्र गीता है।

इसी प्रकार सिवाय इस परमात्मा के अन्य किसी का अस्तित्व नहीं है। जो अस्तित्व, उस परमात्मा के प्रति निष्ठावान है, आर्य है। उसे प्राप्त करने की नियत विधि गीताशास्त्र के निर्देशों के पालन का जो व्रत ले लेता है, आर्यव्रती है; और साधना की पूर्ति में जिसकी आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है, वह आर्यत्वप्राप्त है।

आदिशास्त्र गीता के अनुसार— वह परमात्मा 'हृदि सर्वस्व विष्ठितम्' (गीता, 13/17)— सबके हृदय में रहता है। 'सर्वस्य चाहम् हृदि सन्निविष्टो' (गीता, 15/15)— मैं सबके हृदय में हूँ। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता, 18/61)— वह ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। उस हृदयस्थ ईश्वर का उपासक, विश्व में कहीं भी है, हिन्दू है। हिन्दू शब्द भगवान के निवास-स्थान का परिचायक है। जिन्हें हमें प्राप्त करना है, उन परमात्मा का निवास बैकुण्ठ में नहीं, आकाश में नहीं, हृदय में है। सृष्टि में जो भी उस ईश्वर को ढूँढ़ेगा, हृदय में ही पायेगा। अन्यत्र ढूँढ़ने पर भी ईश्वर नहीं मिलेगा। संसार में भटका हुआ मानव जब भी ईश्वर की ओर उन्मुख होता है, हृदयस्थ ईश्वर की ही शरण जाता है, इसलिए वह सभी हिन्दू हैं। उनका रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, पर्व-उत्सव तो जलवायु की देन या गुरुधरानों की पहचान हैं। मोहनिशा से जगकर ज्योंही कोई हृदयस्थ ईश्वर की शरण

आता है, हिन्दू है; भले ही वह अपने को कुछ भी कहता या मानता रहे। इस प्रकार यह हिन्दू नाम भी गीताशास्त्रसम्मत है।

‘हिन्दू’ दो शब्दों से मिलकर बना है— ‘हि’ = हिय अर्थात् हृदय और ‘इन्दु’ अर्थात् चन्द्रमा। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में चन्द्रमा का क्षीण प्रकाश रहता है, उसी प्रकार जगत् की मोहनिशा में सभी प्राणी निश्चेष्ट पड़े हैं (गीता, 2/69)। तब भी क्षीण प्रकाश के रूप में भगवान हर व्यक्ति के हृदय में सदैव विद्यमान रहते हैं। संत-महात्माओं का सान्निध्य, संयम और चिन्तन से रात्रि का अवसान होता जाता है, ईश्वरीय प्रकाश फैलने लगता है; अंततः इन्दु का क्षीण प्रकाश ज्योतिर्मय परमात्मा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अरब आक्रमणकारियों से भी पूर्व भारत आये चीनीयात्री ह्वेनसांग ने ‘हिन्दू’ शब्द की उत्पत्ति ‘इन्दु’ से होना सुना था। [देखें- सी.यू.की. (Si-Yu-Ki), अनुवादक- सैमुअल बील (Samuel Beal), पृष्ठ 69]

● विशुद्ध रूप में धर्म केवल भारत में है।

धर्म की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि धर्म केवल भारत में है। जैन, बौद्ध या सिख तो हिन्दू-धर्म की शाखायें ही हैं। पारसियों के धर्म का भी मूल भारतीय विचारधारा ही है; क्योंकि ईरानी आर्यलोग भारतीयों के ही सगे भाई हैं। विश्व के अन्य धर्म भी जहाँ तक एक परमात्मा को स्वीकार करते हैं, आदिशास्त्र गीता के ही पथ पर हैं। क्योंकि उन धर्म-संस्थापकों से बहुत पहले गीता ने ही एक ईश्वर का संदेश दिया है फिर भी विचारणीय है कि उन धर्मों में परमात्मा को विदित करने, आत्मदर्शन की क्रिया या हृदयस्थ ईश्वर के खोज की साधना किस सीमा तक है? कुछ भी कीजिये, किसी भी रास्ते से जाइये, आपको ईश्वर मिल जायेगा—ऐसा नहीं है। ‘एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति’ का यह आशय नहीं है। यह एक ईश्वर को विदित करनेवाले महापुरुष की अनुभूति है। शेष लोग ‘एकं सत्’ कहते भर हैं, क्रियात्मक चलकर जाना नहीं। इसी तरह ‘मानव-सेवा – ईश्वर-सेवा’ की भी सूक्ति है। सब प्राणियों में या कण-कण में ईश्वर है— यह भी प्राप्तिवाला महापुरुष ही देखता है। वह इसीलिए मानवमात्र के प्रति सहृदय है; क्योंकि उसमें वह ईश्वर को विदित करने की संभावना को

निहित पाता है। प्राप्तिवाले महापुरुष विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण तथा चाण्डाल में समान दृष्टिवाले होते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि शरीर पर नहीं आत्मा पर पड़ती है। वह जानते हैं कि विद्याविनययुक्त ब्राह्मण आत्मप्राप्ति के करीब है; चाण्डाल थोड़ा दूर है, लेकिन है उसी पथ पर।

जब यह स्पष्ट हो गया कि धर्म के अंतर्गत केवल एक बात आती है— ‘अपनी आत्मा को जागृत कर परमात्मा का साक्षात् करना’; तो धर्म-निरपेक्षता का कोई औचित्य नहीं रह जाता। पक्ष, विपक्ष, निष्पक्ष, सापेक्ष या निरपेक्ष का प्रयोग तब होता है जब एक से अधिक धर्म होते। सरकार की नीतियाँ निरपेक्ष हो सकती हैं कि किसे सुविधा दें, किसे न दें लेकिन धर्म तो अन्तरात्मा की जागृति है। उससे सरकार का क्या लेना-देना?

इसी प्रकार ‘सर्वधर्म समभाव’ का नारा भी एक से अधिक धर्मों की संभावना पर आधारित है। किन्तु जीवनयापन की पद्धति, रहन-सहन का तरीका, स्वर्ग का प्रलोभन, नरक का भय.....यह धर्म कैसे हो गया? जीवनभर कुछ भी करें, मरते समय कह दें कि ‘क्षमा चाहता हूँ’— क्या इतना उदार ईश्वर है? इतना तो माननीय न्यायाधीश चाहकर भी नहीं कर पाते, विधान से बँधे रहते हैं। हिन्दू-धर्म कर्मफल तथा पुनर्जन्म के ठोस सिद्धान्तों पर आधारित है— ‘**कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके...**’ (गीता, 15/2)— मनुष्य योनि ही कर्मों के अनुसार बंधन तैयार करती है। इस मानव योनि के कर्मों के अनुसार बाँध लेनेवाली अहम और ममतारूपी जड़ें नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं।

हिन्दू धर्म मनोदशा भी नहीं है कि क्षण-क्षण पर बदलती रहे। यह शाश्वत सिद्धान्तों पर, स्वयं भगवान द्वारा प्रदत्त शास्त्र गीता पर आधारित है जो सृष्टि के आदि से लेकर अद्यावधि ज्यों-का-त्यों है। हिन्दू-धर्म जीवन-पद्धति नहीं, आत्म-कल्याण की साधना है।

● प्राचीन ग्रन्थों में ‘आर्य’ शब्द का प्रयोग—

इसी प्रकार जब धर्म की परिभाषा स्पष्ट हो गयी तो इसे ‘सनातन या आर्य या हिन्दू नाम किसने और कब दिया’ पूछना अनावश्यक है जैसे यह

पूछना कि 'गीता किस दिन कही गयी'! धर्म के ये नाम अनादि हैं और आदिशास्त्र गीतासम्मत हैं। इसी प्रकार 'आर्य कहीं से आये या भारत के निवासी हैं?'—यह विवाद भी 'आर्य' शब्द का अर्थ न समझ पाने के कारण या विदेशियों के दुष्प्रचार के कारण है। माननीय न्यायालय ने भी उनलोगों का उद्धरण नहीं लिया जिन्होंने आर्य-जीवन जिया है। भगवान महावीर, भगवान बुद्ध के साहित्य में, महाभारत और रामायण में 'आर्य' शब्द का प्रचुर प्रयोग है जो गुणवाचक है, स्थान या जातिवाचक नहीं। श्रेष्ठ आचरणवाले आप आर्य हो सकते हैं और आसुरी वृत्तिवाला आपका सगा भाई अनार्य हो सकता है। बाल्मीकि रामायण के अनुसार दक्षिण भारतीय अंगद, सुग्रीव और बालि का परिवार आर्य था। रावण के पिता, पितामह आर्य थे और वह अनार्य! इसलिये यह कथन भी दुष्प्रचार है कि आर्यों ने काले द्रविड़ों को दक्षिण भारत में खदेड़ दिया। यह तो 'फूट डालो और राज्य करो' की नीतिवालों का प्रचार है। धर्म का इससे कुछ भी लेना-देना नहीं है। सभी भारतीय यहाँ के मूल निवासियों की संतान हैं।

कतिपय विचारकों का आक्षेप है कि हिन्दू-धर्म की परिभाषा करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि मुकदमे तो विकृतियों के थे, धर्म कहलानेवाली परम्पराओं के थे। **धर्म की परिभाषा** गीता में स्थान-स्थान पर है—

1. गीता (2/16-29) में योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं है। परमात्मा ही सत्य है, शाश्वत है, अजर-अमर, अपरिवर्तनशील और सनातन है; किन्तु वह परमात्मा अचिन्त्य और अगोचर है अर्थात् चित्त की तरंगों से परे है। जब तक हमारे चित्त में संकल्पों की लहर उठ रही है तब तक वह शाश्वत है तो, किन्तु हमारे दर्शन, उपभोग और प्रवेश के लिये नहीं है। अब चित्त का निरोध कैसे हो? चित्त का निरोध करके परमात्मा को पाने की विधि-विशेष का नाम कर्म है। इस कर्म को कार्यरूप देना ही धर्म है।
2. गीता (2/40) में है— अर्जुन! इस कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं है।

इस कर्मरूपी धर्म का किञ्चिन्मात्र साधन जन्म-मृत्यु के महान् भय से उद्धार करनेवाला होता है अर्थात् इस कर्म को कार्यरूप देना ही धर्म है।

3. इस नियत कर्म (साधन-पथ) को साधक के स्वभाव में उपलब्ध क्षमता के अनुसार चार भागों में बाँटा गया है। कर्म को समझकर मनुष्य जब से आरम्भ करता है, उस आरम्भिक अवस्था में वह शूद्र है। क्रमशः विधि पकड़ में आयी तो वही वैश्य है। प्रकृति के संघर्ष झेलने की क्षमता और शौर्य आने पर वही व्यक्ति क्षत्रिय हो जाता है। और ब्रह्म के तद्रूप होने की क्षमता, ज्ञान (वास्तविक जानकारी), विज्ञान (ईश्वरीय वाणी का मिलना), ईश्वर पर निर्भर रहने की क्षमता आने पर वही ब्राह्मण है। इसीलिए गीता (18/47) में है कि स्वभाव में पायी जानेवाली क्षमता के अनुसार कर्म में लगना स्वधर्म है।

गीता (3/35) में है कि हल्का होने पर भी स्वभाव से उत्पन्न स्वधर्म श्रेयतर है; किन्तु क्षमता उत्पन्न किये बिना दूसरों के उन्नत कर्म का आचरण भी हानिकारक है। स्वधर्म में मरना भी श्रेयस्कर है; क्योंकि शरीर एक वस्त्र है और वस्त्र बदलनेवाला बदल तो नहीं जाता। उसका साधन-क्रम जहाँ से छूटा था, पुनः आरम्भ होकर अन्ततः वह अविनाशी पद को प्राप्त कर लेगा।

4. गीता (18/46) में इसी को पुनः कहा गया कि जिस परमात्मा से सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, जो सर्वत्र व्याप्त है, स्वभाव से उत्पन्न क्षमता के अनुरूप उसे भली-भाँति पूजकर मानव परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् निश्चित विधि से एक परमात्मा का चिन्तन धर्म है।
5. इस धर्म को करने का अधिकार किसे है?—इसे स्पष्ट करने के सन्दर्भ में योगेश्वर ने गीता (9/30-31) में बताया कि अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मुझे भजता है तो 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'— वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है। अतः धर्मात्मा वह है जो एक परमात्मा में अनन्य निष्ठा से लग गया है।

6. गीता (18/66) में है— सारे धर्मों की चिन्ता छोड़ एक मेरी शरण में हो जा। अतः एक परमात्मा के प्रति समर्पित व्यक्ति ही धार्मिक है। परमात्मा को प्राप्त महापुरुषों ने कैसे उस परमात्मा को पाया? किस मार्ग से चले? वह मार्ग सदा एक ही है; उस मार्ग से चलना धर्म है।

● क्या हिन्दू-धर्म में कोई निश्चित क्रिया नहीं है?—

ऐसा नहीं है कि हिन्दू-धर्म में कोई निश्चित क्रिया नहीं है। गीता (2/41) में है— ‘व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन’— अर्जुन! इस कर्मयोग में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है; वह है इन्द्रियों की चेष्टा और मन के व्यापार को संयमित कर आत्मा अर्थात् परात्पर ब्रह्म में प्रवाहित करना। (गीता, 4/27)

गीता (3/8) में भगवान कहते हैं— ‘नियतं कुरु कर्म त्वम्’— अर्जुन! तू नियत कर्म कर। वह नियत कर्म है क्या?— इस पर गीता (3/9) में है— यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी किया जाता है, इसी लोक का बन्धनकारी कर्म है। कर्म तो ‘मोक्ष्यसेऽशुभात्’— संसार-बन्धन से मुक्ति दिलाता है। इसके लिये यज्ञ समझना होगा जिसे करने से कर्म पूर्ण होता है। गीता, अध्याय 4 में योगेश्वर ने विधिवत् यज्ञ बताया कि स्वाँस-प्रस्वाँस का यजन यज्ञ है। स्वाँस-प्रस्वाँस का निरोध कर प्राणायाम के परायण होना यज्ञ है। इस यज्ञ का परिणाम आत्मा का साक्षात्कार, अमृत की प्राप्ति और सनातन ब्रह्म में स्थिति है। सब यज्ञों में जप-यज्ञ श्रेष्ठ है। योगविधि का नाम यज्ञ है। किन्तु कालान्तर में विकृतियों के प्रवेश से लोग वेदी बनाकर कहीं सात वेदी का यज्ञ, तो कहीं सौ वेदी का यज्ञ.... इन्हीं व्यवस्थाओं से जीने-खाने में उलझ गये। योगविधिवाले यज्ञ में चराचर जगत् हवन-सामग्री के रूप में है। गीता का यज्ञ मानसिक है। इस यज्ञ को कार्यरूप देना ही कर्म है। इसमें कर्मकाण्डों का समर्थन नहीं, बल्कि कर्म की विशुद्ध और निश्चित विधि विद्यमान है।

● हिन्दू-धर्म का शास्त्र और पूजन-विधि—

कौन कहता है कि भारत में कोई एक सर्वमान्य शास्त्र नहीं, कोई निश्चित पूजा-पद्धति नहीं। वह यह गीता है। विश्व में धर्म के नाम पर जो कुछ है,

उसका सत्य-अंश गीता से ही लिया गया है अन्यथा पैगम्बर मुहम्मद, ईसा, मूसा— इन सबने एक ईश्वर कहाँ से ढूँढ़ लिया! सृष्टि के आदि से, करोड़ों वर्षों से जो चला आ रहा है, जो उनसे पहले गीता में व्यक्त है, वही तथ्य उन्होंने भी दुहरा दिया। ये विभिन्न धर्म इन महापुरुषों के पीछे सिमटा समाज ही तो है। लेकिन आत्मा की जागृति की साधना, ईश्वर के दर्शन, उसके स्पर्श और उसमें स्थिति की सम्पूर्ण साधना केवल गीता में सुरक्षित है; संसार में अन्यत्र कहीं भी नहीं है, अन्य किसी भी धर्मग्रन्थ में नहीं है क्योंकि यह भगवान् के श्रीमुख का सीधा प्रसारण है।

● महापुरुषों में मतभेद नहीं—

यह कथन भी अज्ञानतामूलक है कि समय-समय पर संतों एवं धर्म-सुधारकों ने हिन्दू धर्म की विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया जिससे नये-नये पंथ बनते गये, जिनके विचारों में भिन्नता है। आप गीता के आलोक में देखेंगे तो भिन्नता कहीं भी नहीं है। जब से धर्म की व्याख्या तत्त्वदर्शियों, महापुरुषों के क्षेत्र से शिक्षाविदों, पुरोहितों या धर्माधिकारियों के हाथ में आ गयी, अयोग्य लोगों के हाथ में धर्मशास्त्र पहुँच गया तो स्वार्थ के वशीभूत इनलोगों ने धर्म की गलत व्याख्या दी। महापुरुषों के नाम पर उन्हें प्रचारित किया गया, राजदण्ड का भय दिखाकर उन्हें समाज पर थोपा गया। शिक्षा और शास्त्र के अभाव में जनता उन्हें धर्म समझकर स्वीकार करती गयी। समय-समय पर महापुरुषों ने जनता का सही मार्गदर्शन किया; किन्तु रूढ़िवादी अड़े रहे। महापुरुषों और उनके अनुयायियों को धर्मविरुद्ध घोषित कर उन्हें अलग पंथ के रूप में पहचान देने का कार्य इन्हीं रूढ़िवादियों का रहा है। जिन महापुरुषों को राजकीय प्रश्रय मिला, उनके विचार दूर-दूर तक फैले; किन्तु पुरातनपंथियों ने उनका भी विरोध करना बन्द नहीं किया। उन महापुरुषों ने जो कहा, आज उन्हीं की वाणी धर्म के नाम पर संसार में गूँज रही है। सभी महापुरुष एक हैं और सबने धर्मशास्त्र गीता के ही उपदेशों को गद्य-पद्य शैली में, अपनी क्षेत्रीय भाषा में दुहराया है। उनमें आपस में कहीं मतभेद नहीं है।

● जातिप्रथा और ब्राह्मणवाद—

हिन्दू-धर्म पर यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि यह जातिप्रथा और ब्राह्मणवाद पर आधारित है। ऐसा भ्रम इसलिए हुआ है कि लोगों ने समाज-सुधार और धर्म-सुधार को एक मान लिया। धर्मशास्त्र में प्रयुक्त सम्मानित शब्दालियों के समानान्तर व्यवस्थाकारों ने समाज में संगठन बना डाले इसलिये सामाजिक संस्थाओं को या उनकी व्यवस्थाओं को लोग धर्म मानने की भूल कर बैठे। दोष उनका भी नहीं है क्योंकि सामाजिक व्यवस्थाओं को धर्म कहकर या महापुरुषों के नाम पर या राजकीय भय दिखाकर उनसे मनवाया गया। उदाहरण के लिये आदि-धर्मशास्त्र गीता (18/42) में ब्राह्मणों का कर्म बताया गया— शम (मन का शमन), दम (इन्द्रियों का दमन), तप (लक्ष्य के अनुरूप शरीर एवं मन को साधना), शौच (आन्तरिक एवं बाह्य शुद्धि), क्षान्ति (क्षमा), आर्जव (मन की सरलता), ज्ञान (वास्तविक जानकारी), विज्ञान (ईश्वरीय वाणी का मिलना), आस्तिक्य (परमात्मा पर निर्भरता)— यह सभी ब्राह्मण के स्वभाव में हैं। जबकि स्मृतिग्रन्थों में ब्राह्मणों का कार्य बताया गया— पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना, दान देना और लेना (मनुस्मृति, 1/88)। आप स्वयं विचार कर देख लें कि गीता के ब्राह्मण और सामाजिक व्यवस्थारचित स्मृतियों के ब्राह्मण में कितना अंतर है!

श्रीमद्भागवत का उल्लेख है कि महाराजा मनु की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न महाराजा ऋषभदेव के 100 पुत्रों में से 10 राजा, 9 योगेश्वर संन्यासी, 81 राजपाट त्यागकर कर्म के जानकार ब्राह्मण बन गये। ऋषभदेव ने ब्राह्मण बने पुत्रों को अपने से श्रेष्ठ बताया, उनकी पूजा की और कहा— “पञ्चभूतों की अपेक्षा वृक्ष श्रेष्ठ हैं, वृक्षों की अपेक्षा जीव श्रेष्ठ है, उनमें भी कीटादि की अपेक्षा चलने-फिरनेवाले पशु श्रेष्ठ हैं, उनमें भी ज्ञानयुक्त पशु श्रेष्ठ हैं, उनसे भी मनुष्य श्रेष्ठ हैं, मनुष्यों से गन्धर्व और उनसे भी सिद्धगण श्रेष्ठ हैं, सिद्धों से भी किन्नर श्रेष्ठ हैं, उनसे भी असुर श्रेष्ठ हैं, उनसे देवता श्रेष्ठ हैं, उनमें इन्द्र श्रेष्ठ हैं, इन्द्र से ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं, ब्रह्मा से उनके पुत्र रुद्र श्रेष्ठ हैं, रुद्र से भी मैं श्रेष्ठ हूँ; किन्तु ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे इन्द्रियों का दमन कर

परमात्मा को धारण करनेवाले, दया, तप, तितिक्षा, स्वाध्याय, ज्ञान, विज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न हैं इसलिए श्रेष्ठ हैं।”

ब्राह्मण कोई जन्मता नहीं, हो जाता है। जबकि विकृतिकाल में कर्मकाण्ड सीखकर यज्ञोपवीत धारण करनेवाले ब्राह्मण बन गये। आज कोई सवर्ण अनुसूचित जातियों को जातिसूचक शब्दों से अपमानित कर दे तो ब्राह्मण को भी जेल जाना पड़ता है, दण्ड मिलता है जो पहले दण्डमुक्त माना जाता था। यदि इसी पद्धति का नाम सनातन धर्म था तो अब कहाँ चला गया? न्याय-पद, धर्म-पद, शिक्षा-पद, नीति-निर्धारण-पद, जो ब्राह्मणों के लिये आरक्षित था, भारत में जन्मे सभी जातियों के लोग इसे पा रहे हैं। अब रूढ़िवाद की पैरवी करनेवाले चुप हैं। भारत में ब्राह्मणों का महत्व सदा से ही रहा है किन्तु वह गीता की आध्यात्मिक साधना का ब्राह्मण है। ब्राह्मण ऋषियों के क्रियाहीन, पथभ्रष्ट वंशज पूर्वजों की गौरव-गाथा के लिये आहें भरते हों तो आश्चर्य क्या!

● वर्ण का उपयोग साधना करने वालों के लिए है—

गीता के वर्ण भगवत्-पथ की साधना के चार सोपान हैं। चिन्तन में लगते तो सभी हैं, किन्तु आरम्भ में कोई स्वाँस-प्रस्वाँस में उठनेवाले संकल्पों को रोक नहीं पाता। ऐसी स्थितिवाला अल्पज्ञ साधक शूद्र श्रेणी का है। वह अपनी स्वाभाविक क्षमता के अनुसार संत-सत्पुरुषों की परिचर्या से ही कर्म आरम्भ करे। क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण-श्रेणी की क्षमता उसके स्वभाव में ढलती जायेगी, वही साधक शूद्र से ब्राह्मणत्व तक की साधना करता है और ब्रह्म में प्रवेश पा जाने पर वह ब्राह्मण भी नहीं रह जाता। वर्ण कर्म की क्षमता का आन्तरिक मापदण्ड है। भगवान ने कहा कि चार वर्णों की सृष्टि मैंने की। क्या भारत से बाहर सृष्टि नहीं है? अन्यत्र जाति-व्यवस्था का यह रूप नहीं मिलता। गीता (18/41) में है— ‘**कर्माणि प्रविभक्तानि**’— कर्म को बाँटा गया; व्यक्ति को नहीं, समाज को नहीं। यदि गीता का कर्म समझ में आ जाय तो वर्ण समझ में आ जायेगा। किन्तु गीता की लगभग चौदह-पन्द्रह हजार उपलब्ध टीकाओं में कर्म, यज्ञ और वर्ण को स्पष्ट नहीं किया गया। सामाजिक व्यवस्थाकारों का दवाब इतना था कि सत्य जाननेवाले महापुरुषों की वाणी भी

दबती चली गयी। जब सृष्टि में सभी महाराजा मनु की संतान हैं, सभी में प्रभु का अंश है तो ऊँच-नीच का भेदभाव कैसा?

यह अवश्य है कि सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के संचालन के लिये कुछ तरीके अपनाये जाते हैं। सामाजिक व्यवस्था को चलाने के लिये व्यवस्थाकारों ने कार्यों का विभाजन किया। एक ही परिवार के लोग भिन्न-भिन्न कार्यों को देखते थे; किन्तु उनमें ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं था। उदाहरण के लिये राजस्थान के जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर की मरुभूमि में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र कही जानेवाली सभी जातियों के बच्चे भेड़-बकरी चराते हैं। अतः भारत में अस्पृश्य कोई नहीं था। उत्तर प्रदेश, बिहार इत्यादि मैदानी इलाकों में पशु चरानेवालों की अलग जातियाँ हैं। धनी लोग न यहाँ बकरी चराते हैं, न वहाँ। श्रम से होनेवाले, स्वच्छता के कार्य सभी करना नहीं चाहते इसलिये व्यवस्थाकारों ने यह प्रचारित किया कि यह कार्य-विभाजन भगवान ने निर्धारित किया है। जिन्होंने नहीं स्वीकार किया, उन्हें राजदण्ड के भय से या सामाजिक बहिष्कार के भय से मना लिया गया और अंततः सुविधाभोगी व्यवस्थाकारों ने स्मृतिग्रंथों की रचना कर घोषित कर दिया कि इन व्यवस्थाओं में जीना-खाना ही धर्म है। जातिगत भेदभाव, ऊँच-नीच विशुद्ध सामाजिक समस्या है। इसके लिये धर्म को उत्तरदायी ठहराना भूल है।

● जातिप्रथा धर्म नहीं—

जातिप्रथा मध्यकाल में समाज को चलाने की आचार-संहिता थी जो धर्म के नाम पर चलायी जाती रही है। वह व्यवस्था भारत की आजादी के साथ ही तिरोहित हो गयी है। यदि ऊँच-नीच की भावना निकाल दें तो जातियाँ कुल-कुटुम्ब की पहचान हैं, हमारी गौरवगाथा हैं, पूर्वजों के कीर्तिमान हैं, यशोगान हैं; किन्तु धर्म से इनका क्या लेना-देना है? जातियाँ हैं, किसी न किसी रूप में रहेंगी भी; किन्तु 'यह धर्म है'—यह कहना गलत है। 'इन जातियों के लिये निर्धारित व्यवस्था में रहने से भगवान मिलता है'—यह कहना गलत है। आपका इतिहास गौरवशाली रहा है, आप अपने गौरव की रक्षा करें। युगों से क्षत्रियों ने देश की रक्षा की है, आप भी करें। देश की रक्षा के लिये आप सब शस्त्र

उठा सकते हैं, हर जातियाँ उठा सकती हैं। महाराजा मनु से जायमान होने से शस्त्र-संचालन सभी सीख सकते हैं। नीतिश्लोकों में है— **‘विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिं परेषां परपीडनाय। खलस्य साधोः विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥’**— दुष्टों के पास विद्या विवाद के लिये, धन अहंकार-प्रदर्शन के लिये और शक्ति दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिये होती है। इसके विपरीत सज्जनों की विद्या ज्ञान के लिये, धन दान के लिये और शक्ति रक्षा के लिये होती है। इसीलिए भगवान राम ने, भगवान श्रीकृष्ण ने आततायियों का संहार किया। भगवान राम लंका अधिपति रावण से लड़ने गये तो महात्मा अगस्त्य ने भी उन्हें अपना एक अमोघ अस्त्र प्रदान किया जिससे रावण मारा गया। आप सबका निःशस्त्रीकरण तो विकृतिवाले आपके धर्म ने किया है। वैसे दुनिया में यदि सम्मान के साथ जीना है तो शिक्षा के तीन अंग होने चाहिये— 1. शस्त्र संचालन की शिक्षा, 2. जीवनयापन की शिक्षा और 3. अध्यात्म की शिक्षा। शस्त्र-संचालन और जीवनयापन की शिक्षा आचार्यों के पास है; किन्तु अध्यात्म की शिक्षा तत्त्वदर्शी सद्गुरुओं के पास होती है, शिक्षालयों या धर्माधिकारियों के पास नहीं।

● क्या सब कुछ सहन कर लेना हिन्दू-धर्म है?

कहते हैं— ‘हिन्दू सहिष्णु होता है, सहनशील होता है।’ किन्तु सहनशीलता यदि सामाजिक सद्गुण है तो सबके लिये उतना ही आवश्यक है। गलत बातों को हिन्दू नहीं सहता। धर्म की राह में मर मिटनेवाला हिन्दू होता है। वह किसी रूढ़ि को महत्त्व नहीं देता। संजीवनी लेने जाते समय हनुमान को एक संत मिला। हनुमान ने उसे सादर प्रणाम किया; किन्तु ज्योंही उन्हें पता चला कि यह ढोंगी कालनेमि है, उन्होंने उसे मार डाला। हाँ, जब से इस समाज को रूढ़ियों ने फूट डालकर कमजोर बना दिया, लोग सहिष्णु न हों तो करें क्या? सहिष्णु रहने और सुनने की आदत पड़ती जा रही है।

● हिन्दू-धर्म में देवी-देवता—

आदिशास्त्र गीता के अनुसार हिन्दू-धर्म में किसी देवी-देवता को पूजने का कोई विधान नहीं है। हृदय में दैवी सम्पद् का उत्कर्ष ही देव-पूजा है। दैवी

सम्पद् वे गुण हैं जो परमतत्त्व परमात्मा तक की दूरी तय कराते हैं। ज्यों-ज्यों दैवी सम्पद् बलवती होगी, वही तुम्हारा बल है। तुम देवताओं की उन्नति करो, देवता तुम्हारी उन्नति करेंगे; परस्पर उन्नति करते हुए आप परमतत्त्व परमात्मा को विदित कर लें। 'तैर्दत्तान्' (गीता, 3/12)– वही देनेवाले हैं। यदि दैवी सम्पद् के गुणों को अर्जित किये बिना कोई कहता है कि मैंने परमात्मा को पा लिया तो वह निश्चय ही चोर है, करने में जी चुराता है। इस प्रकार गीता में 'देवता' व्यक्ति में प्रसुप्त दैवी गुणों का नाम है।

गीता के अनुसार वाह्य देवी-देवताओं की पूजा मूढ़बुद्धि की देन है। कामनाओं से जिनकी बुद्धि आक्रान्त हो जाती है, ऐसे लोग ही अन्य-अन्य देवताओं की पूजा करते हैं (गीता, 7/20)। जहाँ भी मनुष्य की श्रद्धा झुक जाती है, उनकी देव-श्रद्धा को, यद्यपि वह है गलत, लेकिन मैं ही उन्हें भी पुष्ट करता हूँ। वह नश्वर फल भोगने में आता और नष्ट हो जाता है; किन्तु अर्जुन! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। आप फल का विधान करते क्यों है? भगवान श्रीकृष्ण बताते हैं— अर्जुन! देवपूजक भी मेरे ही पुजारी हैं। अपनी समझ से वे सर्वशक्तिमान् को ही ढूँढ़ रहे हैं। उन्हें रास्ता नहीं मालूम है, वे भटके हुए हैं, उनकी देवपूजा अविधिपूर्वक है इसलिए वे नष्ट हो जाते हैं। पूजन की सही विधि है गीता। अर्जुन! हम दोनों के सम्वाद (इस गीताशास्त्र) को जो इन भटके हुए भक्तों में कहेगा, उसके द्वारा मैं पूजित हो जाऊँगा। उसके समान मेरा प्रिय कार्य करनेवाला इस संसार में कोई नहीं होगा। जो कानों से सुन लेगा, वह भी उत्तम लोकों को प्राप्त होगा; और जो सुनकर आचरण करेगा, मेरे अविनाशी पद को प्राप्त हो जायेगा।

गीता (4/12) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि नियत कर्म को करते हुए दैवी सम्पद् के गुणों को उन्नत कर लोग इस मनुष्य-शरीर में ही परमात्मा की प्राप्तिरूपी परम सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। नियत कर्म मन और इन्द्रियों की एक निर्धारित अंतःक्रिया है। जब कर्म का यही स्वरूप है तो बाहर मन्दिर, मस्जिद, चर्च इत्यादि बनाकर देवी-देवताओं की मूर्ति या प्रतीक पूजना कहाँ तक संगत है?

● मूर्तिपूजा का औचित्य—

संसार में मूर्तिपूजक कौन नहीं है? वस्तुतः चबूतरों, स्मारकों, ग्रन्थों या चित्रों से महापुरुषों की स्मृतियाँ सँजोयी जाती हैं जिससे उनकी उपलब्धियों का स्मरण होता रहे। मातायें बच्चों को सिखाती हैं कि ये हमारे पूर्वगुरु हैं, देवता हैं, पूर्वज हैं, इन्हें प्रणाम करो। उनमें श्रद्धा करते मन्दिरों, मूर्तियों की परिक्रमा करते क्रमशः वह सदगुरुओं के पास धर्म की जानकारी प्राप्त करता है और बोध होते ही गीतोक्त साधना के प्रशस्त पथ पर आ जाता है जहाँ वाह्य पूजा, मन्दिर-मूर्तियों का पटाक्षेप हो जाता है और वह चिंतन में अनुरक्त हो जाता है। पूजास्थल, प्रतिमायें हमारी प्रारम्भिक पाठशालायें हैं, हमारे आदर्श हैं। जो स्वरूप उनका है, क्रमशः चलकर उसी लक्ष्य की प्राप्ति हमारा भी अभीष्ट है और यही प्रेरणा लेना उनकी यथार्थ पूजा है। यदि इन प्रतीकों से यह सिखाया जाय कि जिनकी प्रतिमा, चित्र या प्रतीक हैं, उन्होंने क्या किया?, भगवान को कैसे पाया?, उनका त्याग कैसा?; केवल इतना सीखने के लिये ही हम वहाँ जाते हैं, जाना भी चाहिये; किन्तु यदि इन स्थलों पर महापुरुष के पदचिह्न नहीं बताये गये, करके नहीं सिखाये गये, कल्याण की व्यवस्था नहीं मिली तो वह स्थान गलत है। वहाँ आपको केवल रूढ़ि मिलेगी। व्यक्तिगत रूप से घर-घर, गली-गली जाकर उपदेश पहुँचाने की अपेक्षा सामूहिक उपदेश के केन्द्रों के रूप में इन धार्मिक संस्थानों की स्थापना की गयी थी। विकृतियों को अलग कर एक धर्मशास्त्र गीता से सन्देहों का निवारण करने से इन स्थलों का वास्तविक लाभ मिल सकता है।

माननीय शीर्ष न्यायालय ने कई महापुरुषों, महानुभावों का यह विचार उद्धृत किया है कि धर्म मान्यताओं और विश्वास पर आधारित होता है। चूँकि लोगों की मान्यतायें भिन्न होती हैं इसलिए सबके धर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी ने कहा कि 'हिन्दू-धर्म विश्वासों का अजायबघर है।'—ऐसा धर्म का स्वरूप न समझ पाने के कारण है; क्योंकि विश्वास के लिये प्रमाण चाहिये। बिना प्रमाण का विश्वास अंधविश्वास कहलाता है। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी की मान्यता है— 'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति

होड़ नहीं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगोस जल कै चिकनाई॥' (7/88/7-8)– कुछ जानने को न मिले, तब तक प्रतीति अर्थात् विश्वास नहीं होता। चित्रकूट-अनुसूइयाजी के श्री परमानन्द परमहंसजी महाराज कहा करते थे कि धर्म काल्पनिक मान्यताओं पर आधारित नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष दर्शन है। वे प्रायः कहते थे कि भगवान ने हमें वहाँ ऐसे बचाया, वहाँ पर यह बताया। उनसे पूछा गया कि– “महाराजजी! क्या भगवान् बोलते भी हैं?” उन्होंने कहा– “हाँ हो! भगवान् ऐसे बतियावत हैं, जैसे हम तू बैठ के घंटों बतियाई और क्रम न टूटे।” वस्तुतः जिस परमात्मा की हमें चाह है, हमारी पुकार ऐसी हो कि वह करुणा से द्रवीभूत होकर जिस स्तर पर हम हैं, उस स्तर तक उतर आयें, हमारी रोकथाम करने लगें, मार्गदर्शन करने लगें, तभी निवृत्ति दिला देनेवाला भजन जागृत होता है। जब तक भजन की यह जागृति नहीं हो जाती, सभी साधनों को करते हुए भी हम अभी प्रत्याशी ही हैं। भगवत्-पथ पर अभी हमारा प्रवेश ही नहीं हुआ। किसी संत-गुरु की टूटी-फूटी सेवा और उनके द्वारा निर्दिष्ट गीतोक्त साधना के स्वल्प अभ्यास से ही वह परमात्मा आपके हृदय से रथी हो जाता है; जैसा कि गीता में है– **‘उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥’** (13/22)– वह परमात्मा आपके हृदय-देश में द्रष्टा के रूप में स्थित है, साक्षी के रूप में है। साधना उन्नत होने पर वही द्रष्टा परमात्मा **‘अनुमन्ता’** बन जाता है, अनुमति प्रदान करने लगता है जिसे संत अनुभव (भव से अतीत करनेवाली विशेष जागृति) कहते हैं। साधना और समीप पहुँचने पर वही पुरुष **‘भर्ता’** बनकर भरण-पोषण करने लगता है, आपके योग-क्षेम की व्यवस्था भी कर देता है। साधना और सूक्ष्म होने पर वही **‘भोक्ता’** हो जाता है। **‘भोक्तारं यज्ञतपसां’**– आपसे यज्ञ-तप जो कुछ भी हो पाता है, वह परम पुरुष उसे ग्रहण कर लेता है और उससे उन्नत अवस्था में **‘महेश्वरः’**– महान् ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। इससे आगे वही पुरुष **‘परमात्मेति चाप्युक्तो’**– परम से संयुक्त होते ही परमात्मा कहलाता है। शरीर में रहते हुए भी यह आत्मा **‘पर’** ही है, प्रकृति से सर्वथा परे है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में वह

द्रष्टा के रूप में था, क्रमशः उत्थान होते-होते वह परम पुरुष परमात्मा में परिणत हो जाता है। परमात्मा को विदित कराने वाला धर्म, इस प्रकार केवल कोरी मान्यता नहीं, ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित है। इसी उपलब्धि के लिये योगीजन योग-साधना करते हैं, चक्रवर्ती सम्राट भी गृहत्याग करते पाये जाते हैं। यह केवल सुनी-सुनायी मान्यताओं पर आधारित नहीं है। सन्त कबीर कहते हैं— **‘अवधू! जीवत में कर आसा। मरे मुक्ति गुरु कहे स्वार्थी, झूठा दे विस्वासा।’** धर्म मान्यता नहीं, प्रत्यक्ष दर्शन है।

कतिपय विचारकों ने निःस्वार्थ सेवा, जनतंत्र, समाजवाद, मानवतावाद और किसी ने दान, सहनशीलता, क्षमा, सहभागिता इत्यादि को धर्म कहा है। ये शब्द सुनने में अच्छे लगते हैं किन्तु मध्यकाल में धर्म की भावना को ढाल बनाकर काम चलाया गया, जातियाँ बना दी गयीं; आज इन शब्दों की आड़ में व्यवस्था चलाने का काम हो रहा है। व्यवस्था तो चल सकती है किन्तु यह धर्म नहीं है। जब तक लोग यह न जान लें कि कोई सर्वशक्तिमान ईश्वर उनके प्रत्येक कार्य को देख रहा है, कर्मों का फल उन्हें ही भोगना है; तब तक इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं है।

माननीय शीर्ष न्यायालय ने इस बिन्दु पर भी विचार किया कि मानवता का अन्तिम लक्ष्य क्या है? वह है व्यक्ति द्वारा परमात्मा की प्राप्ति। इसके लिये कोई ज्ञान, तो कोई भक्ति, तो कोई कर्म पर जोर देता है। साधनायें कई हैं इसलिए हिन्दू-धर्म एक नहीं है। इसे जीवन-पद्धति मानना अधिक सही है। किन्तु यह निष्कर्ष भी आदिशास्त्र गीता को भली प्रकार न समझ पाने के कारण ही है। गीता में परमात्मा की प्राप्ति के लिये एक ही साधन — नियत कर्म बताया गया है। इसे करने के दृष्टिकोण दो हैं— ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग। अपने बलाबल का निर्णय लेकर एक प्रभु के चिंतन में प्रवृत्त होना ज्ञानयोग है; और उसी नियत कर्म को ईश्वर पर निर्भर होकर, उनके हाथ का यंत्र बनकर जो चलता है, वह निष्काम कर्मयोगी कहलाता है। गीता में इन दो प्रकार के व्यक्तियों के लिये मार्ग एक ही है, साधना एक ही है। साधना में प्रगाढ़ता भक्ति है जिसका लक्षण है— **‘मम गुण गावत पुलक सरीरा। गदगद**

गिरा नयन बह नीरा॥' (मानस) भक्ति अलग से कोई मार्ग नहीं है, साधना की क्रमोन्नत अवस्था है।

माननीय शीर्ष न्यायालय ने धर्म के नाम पर प्रचलित कतिपय ग्रन्थों से उद्धरण देकर धर्म को स्पष्ट करने का प्रयास किया है; किन्तु उन उद्धरणों के पहले और बाद के कथनों पर विचार कर लेना उपयोगी होगा। उदाहरण के लिये, बृहदारण्यक उपनिषद्, प्रथम अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण का 14वाँ मंत्र लिया गया जिसमें है कि धर्म से बढ़कर कुछ भी नहीं है, धर्म सत्य है....इत्यादि। माननीय इस मंत्र के पहले 11, 12 और 13वें मंत्र को देखने की कृपा करें जहाँ कहा गया है कि ब्रह्म ने सबसे पहले क्षत्रिय की रचना की इसलिए क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नहीं है। इसी से राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है। इसी प्रकार 15वें मंत्र में है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। ब्रह्म अग्नि बनकर देवताओं का ब्राह्मण हुआ तथा मनुष्यों में ब्राह्मणरूप से ब्राह्मण हुआ। इसी से लोग अग्नि में हवन कर देवताओं के बीच कर्मफल की इच्छा करते हैं और मनुष्यों के बीच ब्राह्मण जाति से कर्मफल की इच्छा करते हैं क्योंकि ब्रह्म इन दो रूपों में ही व्यक्त हुआ है। क्या माननीय न्यायालय को यह जाति-व्यवस्था स्वीकार्य है? यह तो उचित नहीं कि बीच से अपने पक्ष का विचार ले लें और शेष छोड़ दें। दोनों एक साथ नहीं हो सकता।

इसी प्रकार बाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग 9 के 10वें श्लोक में श्रीराम ने जाबालि के नास्तिक मत का खण्डन किया है— **‘सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्। तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोके प्रतिष्ठितम्॥’** अर्थात् सत्य और दया ही राजाओं का सनातन आचार है अतः राज्य सत्यस्वरूप है। सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि प्राचीन काल से ही संवैधानिक प्रणाली सत्य और सहानुभूति पर आधारित है।

गीता के श्लोक 4/11 तथा 7/21 की यथावत् व्याख्या के लिये कृपया देखें ‘यथार्थ गीता’। इसी प्रकार महाभारत, कर्णपर्व के अध्याय 69 के

58वें श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि धर्म समाज की स्थिरता के लिये है जिससे सामाजिक व्यवस्था और मानवमात्र की प्रगति बनी रहे। जिससे भी इन उद्देश्यों की पूर्ति हो, धर्म हैं। आश्रमवासिकपर्व (5/9) में धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को राजनीति का उपदेश दिया है। उस श्लोक में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसका अर्थ कानून का शासन होता हो। फिर धर्म के निर्धारण के लिये राजनीति का प्रयोग, वह भी धृतराष्ट्र जैसे व्यक्ति के मुँह से धर्म का निर्धारण अच्छा नहीं लगता। धृतराष्ट्र ही नहीं, भीष्म और युधिष्ठिर के कथन भी धर्म-निर्धारण में प्रमाण नहीं माने जा सकते। धर्मशास्त्र के रूप में गीता को भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रमाण माना— ‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते’ (गीता, 16/24)। ‘इति गुह्यतमं शास्त्रम्’— यह गोपनीय से भी अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया।

मानव की सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान गीता है। भगवान् कहते हैं— अर्जुन! दुनिया में चार प्रकार के भक्त मुझे भजते हैं। आर्त अर्थात् दुःख-निवारण चाहनेवाला, अर्थार्थी अर्थात् धन-धान्य-पुत्र-पौत्र-समृद्धि चाहनेवाला, जिज्ञासु अर्थात् प्रभु को जानने की इच्छावाला और ज्ञानी (प्रत्यक्ष दर्शन का नाम ज्ञान है।) उस जानकारी के साथ परमात्म दर्शन, स्पर्श और उनमें स्थिति की कामनावाला। संसार में इसके अतिरिक्त पाँचवी कोई कामना हो भी नहीं सकती। आप जो भी माँगेंगे, प्रभु से मिलेगा। वस्तु तो भोगने में आ जाती है किन्तु भक्त की साधना का विनाश नहीं होता। भगवान् कहते हैं— इस पथ में आरम्भ का नाश नहीं होता। इस गीतोक्त नियत कर्म का आचरण ही धर्म है जिसका स्वल्प अभ्यास भी महान् जन्म-मरण के भय से उद्धार करके ही छोड़ता है इसलिये यह धर्म कभी बदलता नहीं। इस धर्म के लिये निर्धारित नियत कर्म का उतार-चढ़ाव श्रद्धा पर है। एक परमात्मा में श्रद्धा रखना भारतीय संस्कृति है जिसके अंतर्गत प्रातः उठते, हर कार्य करते, हल चलाते, दुकान खोलते से लेकर सोते समय भी वह एक परमात्मा का स्मरण करके ही सोता है। माता-पिता तथा गुरुजनों की सेवा, अतिथियों और पूर्वजों का आदर, भाई-भाई तथा भाई-बहन इत्यादि का स्नेहिल सम्बन्ध हिन्दू संस्कृति है जिसके मूल

में भगवान् द्वारा प्रदत्त शास्त्र गीता की प्रेरणा है। महाभारत संस्कृति ग्रन्थ है जिसमें लोकरीति और वेदरीति, दोनों का समन्वय है जबकि गीता विशुद्ध योगदर्शन है, धर्मशास्त्र है।

अतः आप सबसे आग्रह है कि भगवान के श्रीमुख की वाणी श्रीमद्भगवद्गीता को उसके यथावत् भाष्य स्वामी अङ्गड़ानन्दजी महाराज कृत 'यथार्थ गीता' के आलोक में धर्मशास्त्र स्वीकार करें। अब यह न कहा जाय कि— 'हिन्दू धर्म का कोई संस्थापक नहीं है, कोई सर्वमान्य शास्त्र नहीं, एक ईश्वर नहीं, निश्चित सिद्धान्त नहीं या कोई धर्मगुरु नहीं.....'। इन सभी प्रश्नों और आपके अन्य प्रश्नों का भी समाधान गीता में है। यह गीता एक प्रकार से गुरु-शिष्य संवाद ही है जिसमें अर्जुन ने भगवान को 'गुरुर्गरीयान्'— गुरुओं के भी परम गुरु, परम पूजनीय तथा अपने को 'शिष्यस्तेऽहम्'— मैं आपका शिष्य हूँ— ऐसा माना है। गीता को यह सम्मान मिलते ही सदियों से ही भेदभाव तथा हीनभावना से ग्रसित समाज आत्मीयता की स्नेहिल भावना से आप्लावित हो उठेगा।

हजारों वर्षों से भारत के छोटे-बड़े राज्यों में स्मृतियों की सामाजिक व्यवस्था ही धर्म के नाम पर चलायी जा रही थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ उन व्यवस्थाओं का उन्मूलन हो चुका है, फिर भी इन स्मृतिग्रन्थों को दिखाकर धर्मभीरु जनता को अब भी वही धर्म बताया जा रहा है जो वास्तव में जीवन-पद्धति ही थी, समाज चलाने की व्यवस्था थी, उस समय की मनोदशा थी, विचारधारा ही थी; जिसे माननीय न्यायालय ने भी घोषित कर रखा है जिससे बहुसंख्यक समाज आहत था। अतः आप सबसे अनुरोध है कि संविधानविरुद्ध विषमतामूलक इन स्मृतियों का बहिष्कार करते हुए समाज को यह संदेश दिया जाय कि इन कुरीतियों में जीना धर्म नहीं है। धर्मशास्त्र गीता है, इसे लें। ऐसा करने से लोगों के मन-मस्तिष्क और अंतरात्मा तक घुसी हुई कुरीतियों के धौंस से आहत समाज के मुक्तिदाता आप माननीय होंगे।

॥ ॐ ॥

सभी धर्म मूर्तिपूजा से आरम्भ होते हैं। मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा, मठ, विहार, प्रार्थना-स्थलियाँ इत्यादि अध्यात्म की आरम्भिक पाठशालाएँ हैं। वस्तु-पूजा, प्रतीक-पूजा, पुस्तक या लाकेट-पूजा, दीवार या चबूतरा-पूजन, आकाश या किसी दिशा की ओर मुँह करके पूजन मूर्तिपूजा के ही विभिन्न रूप हैं। अधिकांश मन्दिर, मूर्तियाँ प्राचीन पूर्वज महापुरुषों के स्मृति-स्थल ही हैं। बालक पहले इन स्थलियों पर सिर झुकाना सीखता है तो कभी वृक्ष-पूजन या क्षेत्रीय रीति-रिवाजों को अपनाता है। वृक्ष, नदी, पर्वत इत्यादि स्वयं में एक मन्दिर हैं जिनमें ईट-पत्थर जोड़ने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इन आरम्भिक प्रार्थना-स्थलियों की शिशु कक्षा में जीवन गुजार देना कोई बुद्धिमानी नहीं है। माता-पिता और गुरुजनों से आरम्भिक पाठ पढ़कर जिज्ञासु व्यक्ति वयस्क होते-होते महात्माओं के संसर्ग में आता है, उनसे प्रश्न-परिप्रश्न कर वह एक परमात्मा की शरण में जाते ही गीतोक्त साधन-पथ पर आ जाता है और हृदयस्थ परमात्मा की शोध में संलग्न हो जाता है, हिन्दू हो जाता है। आर्य, सनातन और हिन्दू तीनों ही समय-समय पर धर्म के तत्कालीन प्रचलित नाम हैं। हिन्दू धर्म मात्र जीवन-पद्धति नहीं है।

॥ ॐ ॥